# ज़िन्दगी का सिस्टम

**लेखक** : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
**सम्पादन** : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

क़िस्त : 12

हब रह गयी कुछ मुस्तहब (वान्छित) चीज़ें जैसे पेशनमाज़ी, इस में ये ज़ाहिर है कि ये अस्ल नमाज़ पर मज़दूरी नहीं लेता, यानी अगर ये मज़दूरी न भी मिलती तब भी वह नमाज़ पढ़ता मगर मस्जिद में और जमाअत से नही पढ़ता । ये ख़ास बात उजरत की वजह से पैदा हुई है, इसलिये इन के सवाब का हक़ उसको नहीं है। इसी तरह ज़ाकिरी या डाक्टरी उस हद तक कि जो वाजिब के दरजे तक न पहुँची हो, उसमें सवाब का हक़ होना कठिन मालूम होता है।

मगर इस मसले में गहराई से सोचने पर मालमू होता है कि इसकी दो सूरतें हो सकती हैं। एक ये कि इस आदमी को यह काम करने पर उकसाने और काम कराने वाले में वह आदमी रूपये को छोड़ कुछ हो ही न और उसके दिल में अल्लाह के लिए करने का कोई ध्यान पाया ही न जाता हो। दूसरी सूरत है कि उसको लिल्लाहियत का भी ख़्याल हो । ये चीज़ आपको थोड़ी अजीब मालूम होंगी, लेकिन ज़रा थोड़ी देर के लिए मेरे साथ इस मसले पर ग़ौर कीजिए ।

कभी कभी इन्सान ये देखता है कि उसे रोज़ी–रोटी के लिए कोई न कोई ज़रिया तो अपनाना ज़रूरी है। इस सिलसिले में वह ग़ौर करता है और देखता है कि अगर वह डिपार्टमेन्ट जिसमें जुल्म आदि आ़म तौर पर चल रहा हो उसमें जाकर नौकरी करले तब भी उसकी रोज़ी–रोटी चल जाएगी। एक शराब ख़ाने में नौकरी कर ले तब भी रोज़ी–रोटी चल जाएगी या किसी दुकान का एजेन्ट हो जाए, उससे भी रोज़ी–रोटी चल जाएगी, और इन सबके मुक़ाबले में फ़र्ज़ कीजिए कि वह ज़ाकिरी को अख़्तियार करे या डाक्टरी को अपनाये तो ये भी रोज़ी–रोटी का ज़रिया हो सकता है । अब उसके दिल में ये ख़्याल पैदा होता है कि अगर वह पहली नौकरी करता है तो नाजायज़ बातों को करना पड़ सकता है। दूसरी सूरत (शराब ख़ाने में काम करने वाली) भी नाजाएज़ है। तीसरी सूरत में रोज़ी–रोटी तो हो जाएगी लेकिन इससे कोई मज़हबी फ़ायदा फिर भी नहीं मिलेगा। चौथी सूरत में वह देखता है कि ज़ाकिरी से मज़हबी फ़ायदा हासिल होगा और डाक्टरी से ख़ुदा की मख़लूक़ को फ़ायदा पहुँचेगा, जो ख़ुदा चाहता है इसलिए वह अपने जीने के लिए इसको अपना लेता है । बहुत मुम्किन है कि उसे पहले वाले पेशों में ज़्यादा रूपए मिलते लेकिन वह उस बढ़ोत्तरी से मुँह मोड़ लेता है और इस हालत में अपनी कम कमाई पर बस करता है।

ऐसे में वह जो कुछ करता है वह बेशक पेशे की तरह से है मगर इस पेशे को अपनाना, अल्लाह की चाह को सामने रखने की वजह से और मज़हबी फ़ायदे के लिए था। ऐसे में यक़ीनन वह जो भी काम करता है उस पर उसे सवाब का भी हक़ है। अब उसका काम बिल्कुल नीयत पर टिक गया और हमारी ज़बान बन्द हो गयी, यानि हमको किसी ऐसे आदमी के बारे में जो कमाई के लिए इस तरह के ज़रिए को अपनाता है उसके बारे में ये कहने का हक़ नहीं रहा कि उसका काम बातिल (ग़लत) है। ये ख़ुदा ही जानता है कि उसकी नीयत क्या थी और उसका अ़मल किन जज़्बों और एहसास से है।

**सबसे पहली इबादत (भक्ति)**

सबसे पहली इबादत जो नीयत के साथ की जाएगी वह पाकी है। आम हालात में नमाज़ के लिए वुज़ू की जरूत है, वह 'नमाज़' के लेहाज़ से तो वाजिब है, और इसीलिए इसे ''वाजिबे ग़ैरी'' (यानि दूसरी चीज़ की वजह से 'वाजिब कहा गया है) वरना बज़ाते ख़ुद वुज़ू मुस्तहब है और उसकी बड़ी फ़ज़ीलत और गुण है।

**वुज़ू के फ़ायदे**

यूँ तो शरीयत (धर्म विधि) के हुक्मों और ख़ासतौर से इबादतों के असली मक़सद को इन्सान

की अक़्ल समझ ही नहीं सकती और अगर असली मक़सद मालूम भी हो जाए तो फिर वह 'इबादत' रह ही न जाए क्योंकि तब तो इन्सान सिर्फ़ मक़सद के पाने को देखेगा, चाहे वह जिस तरह भी हो, और *''कुर्बतन इलल्लाह''* (अल्लाह के लिए) उस काम को करने की ज़रूरत ही महसूस न होगी। 'इबादत' का राज़ तो इसी में है कि हमें कुछ नहीं मालूम कि उसका असली मक़सद क्या है मगर क्योंकि हमारे मालिक का हुक्म है, बस इसलिए हम उसे करते हैं। लेकिन फिर भी एककामे इबादत के कुछ थोड़े-बहुत फ़ायदे इन्सान की समझ में आ सकते हैं और इन फ़ायदे और मक़सद पर सोच विचार करने में भी कोई हर्ज नहीं। लेकिन इन्हीं को अस्ल बुनियाद नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मुम्किन है उसमें इनके फ़ायदे के अलावा भी दूसरे मक़सद नज़र में हों जिनको हम पूरे तौर पर नहीं समझ सकते।

अब ग़ौर कीजिए कि वुजू में होता क्या है ? चेहरे का धोना, दोनों हाथों का कुहनियों तक धोना, इसके बाद सर और पैरों का मसा, और अगर पूरे तरीक़े और मुस्तहब बातों के साथ वुजू किया जाए तो सबसे पहले तीन बार हाथों का गट्टों तक धोना, तीन बार कुल्ली करना और तीन बार नाक में पानी डालना। ज़ाहिर है कि शुरू में इस्लाम धर्म क़ानून का जिसके साथ सीधे सामना पड़ा वह अरबों के साथ पड़ा फिर उसके घेरे में बहुत सी वह जातियां मिलती हैं जो अरबों ही की तरह झगड़ालू और जंगली ज़िन्दगी बिताती हों।

अरबों के नज़रिए का अंदाज़ा जो उनकी पुरानी शाएरी से होता है वह ये है कि वह जंग व ग़ारत के सिलसिले में सफ़ाई सुथराई का बिल्कुल लेहाज़ नहीं करते थे बल्कि वह मैले रहने पर फ़ख्र करते थे। ग़ौर कीजिए शन्फ़री अज़दी के इस मशहूर क़सीदे (सराहना की कविता) *''लामियतुल अरब''* पर जिसमें उसने अपने ख़याल में ऊंचे शिष्टाचार (High Morals) की मिसाल दी है। इसमें वह खुद अपनी तारीफ़ में कहता है -''

मेरे सर के बड़े-बड़े बाल इस तरह हैं कि हवा के चलने से उनके गुच्छे चारों तरफ़ उड़ते हैं, और उनमें कभी कन्घी नहीं होती, तेल के पड़ने को और सफ़ाई को एक काल हो गया है और उसमें सूखा मैल जमा है जो एक साल का हो गया है।''

अब अगर इनके सामने इस मक़सद को पेश किया जाता कि देखो, साफ़ रहा करो और मैले न रहो, तो वह उसे कोई अहमियत न देते, क्योंकि उनकी प्रकृति में सफ़ाई और सुथरेपन का कोई मतलब ही नहीं था।

इसलिए उनके लिए इबादत के नाम पर ऐसे हुक्म लागू किए गये कि जिनसे सफ़ाई का मक़सद तो मिल ही जाए और अस्ल निगाह में ये हो कि ये ख़ुदा का हुक्म है और बिना इसके नमाज़ जैसी अहम इबादत जो इस्लाम का स्तंभ है, वह सही तरीक़े से नहीं हो सकती।

अब अगर कुछ ख़ास सूरतें पैदा हो जाएं तो नहाना इन्सान के लिए ज़रूरी हो गया और यूँ रोज़ाना हर नमाज़ के लिए उसे वुजू से रहना ज़रूरी हुआ, इससे कई बार उसके हाथ मुँह धुल जाएगें और ख़ासतौर से अगर पूरे तरीक़े और मुस्तहब बातों के साथ वुजू हो तो कुल्लियों के ज़रिए से मुँह के अन्दर के हिस्से की सफ़ाई होगी, जबकि उसके साथ मिस्वाक (दातुन) करने पर भी बहुत ज़ोर है और इसे इस दरजे तक अहमियत दी गयी है कि हज़रत रसूल (स0) ने फ़रमाया - ''अगर मुझे अपनी उम्मत पर बहुत ही कठिनाई का डर न होता तो मैं मिस्वाक को वाजिब (अनिवार्य) कर देता।''

ये मिस्वाक वुजू के वक़्त अलग से और फिर हर नमाज़ के मौक़े पर अलग से इसलिए तरह-तरह के बहाने रखे गये जिन से इन्सान के लिए सफ़ाई और पाकी का मक़सद मिल जाय।

वुजू का एक बहुत बड़ा फ़ायदा उस वक़्त सामने आता है, जब इन्सान पर नींद छायी हो और वह नमाज़ के लिए खड़ा होना चाहे उस मौक़े पर अगर यूँ ही वह नमाज़ पढ़ने लगता तो उस पर नींद बहुत ज़्यादा सवार होती लेकिन वुजू कर लेने से नींद हल्की हो जाती है और इन्सान का इबादत की तरफ़ ध्यान पैदा होता है।

हदीस में वुजू के इन सारे फायदों का बयान मौजूद है। ह0 इमाम रिज़ा (अ0) फ़रमाते हैं -

''वजू का हुक्म इसलिए हुआ है और इसको

शुरू में रखा गया है ताकि बन्दा उस वक़्त मैल से दूर पाक व पाकीजा हो जब वह अपने मालिक के सामने दुआ के लिए खड़ा हो रहा है और उस हुक्म में उसका आज्ञाकारी हो जो उसको दिया गया है और मैल कुचैल से पाक व साफ़ हो, इसके अलावा उसमें काहिली व नींद को दूर करना और दिल का पाकीज़ा करना भी है, मालिक के सामने खड़े होने के लिए।''

वुज़ू को इतनी अहमियत दी गयी है कि नमाज़ की वह सूरत जो किसी मसलहत की वजह से पढ़ी जाए और जिसमें सचमुच नमाज़ का अस्ल मक़सद पूरा नहीं होता, इस पर भी उसे बिना वुज़ू अदा करने के लिए मना किया गया है। ये बात आगे दी जा रही रवायत से आपकी समझ में आ जाएगी। ग़ौर कीजिए मुस'इद बिन स–द–क़ः की रवायत–एक आदमी ने इमाम जाफ़रे सादिक़ (अ0) से पूछा कि अक्सर ऐसा होता है कि दूसरे गुट की तरफ़ से मैं उस वक़्त जाता हुँ जब उनकी नमाज़े जमाअत हो रही होती है और मैं वुज़ू किए हुए नहीं हूँ। अब अगर मैं उनके साथ नमाज़ न पढ़ूँ तो वह तरह–तरह की बातें करेंगे। तो क्या ऐसे में ये सही है कि मैं उनके साथ (बिना वुज़ू) नमाज़ पढ़ लूँ और फिर वहाँ से वापसी के बाद वुज़ू करके अपनी नमाज़ पढ़ूँ।

इमाम (अ0) ने फ़रमाया – " अल्लाहु अकबर! जो आदमी बग़ैर वुज़ू नमाज़ पढ़े उसको ये डर नहीं होता कि ज़मीन फट जाए और वह उसमें धंस जाए।

### वुज़ू के लिए क़ुर्आन का ब्यान

क़ुर्आने मजीद सूरा माएदा में वुज़ू का हुक्म इन शब्दों में दिया गया है :– ''जब तुम नमाज़ के लिए खड़े होने लगो'' इन लफ़्ज़ों से वुज़ू का *''वुजूबे ग़ैरी''* (दूसरे से वाजिब होना) होने का हुक्म साबित होता है, यानि वुज़ू अपने से वाजिब नहीं है बल्कि एक दूसरे वाजिब फ़र्ज़ यानि (अनिवार्य) नमाज़ की वजह से वाजिब है। इसीलिए इसके हुक्म की शुरूआत में नमाज़ के इरादे को बताया गया है कि जब नमाज़ का इरादा करो तो ''तुम धोओ अपने चेहरों को और अपने हाथों को कुहनियों की हद तक'', इन्हीं शब्दों की वजह से अहले सुन्नत हाथों को उल्टा धोते हैं यानि उंगलियों से कुहनियों की तरफ़ पानी ले जाते हैं, मगर इमामों (अ0) ने जो अल्लाह की शरीयतें ब्यान करने वाले हैं उन्होंने ये बता दिया है कि हाथों के धोने में कुहनियों की तरफ़ से शुरू करना चाहिए और यही हाथों के धोने का फ़ितरी (Natural) तरीक़ा भी है। रह गया क़ुर्आन मजीद में *''इलल 'मराफ़िक़ि''* इसकी दो सूरतें हो सकतीं हैं एक ये कि *''इला''* धोने की हद बताता हो, यानि धोना कुहनियों तक होना चाहिए, इस सूरत में बेशक शुरूआत उंगलियों से और ख़त्म कुहनियों पर होना साबित होगा। लेकिन दूसरी सूरत ये है कि *''एला''* जिस चीज़ को धोना है उसकी हद बताने के लिए है, यानि उतना हिस्सा, जो धोया जाएगा वह कुहनियों तक है। क्यों उस तरफ़ उंगलियां आख़िर में हैं और उनके आगे कुछ नहीं हैं इसलिए हद बताने की ज़रूरत नहीं, लेकिन इस तरफ़ कुहनियों के आगे भी हाथ का हिस्सा होता है इसलिए इधर की तरफ़ यानि कुहनियों की तरफ़ आखिरी हद बयान करने की ज़रूरत महसूस हुई।

अब इतने हिस्से को किस तरह से धोया जाए सीधा या उल्टा, इसे क़ुर्आन में नहीं बयान किया लेकिन ये बात यक़ीनी है कि क़ुदरती Natural हैसियत से जो इन्सान की समझ में आएगा वह सीधा ही धोना है, उल्टा धोने के हुक्म के लिए अलग से व्याख्या की ज़रूरत है। बहरहाल हमारे मासूम इमामों के हुक्म के मुताबिक़ बताई गयी निश्चित की गई सूरत यही है कि कुहनियों से उंगलियों के सिरे तक धोया जाए और अगर इसका उल्टा किया जाएगा तो वुज़ू ग़लत होगा। फिर हुक्म हुआ है ''और मसह करो अपने सरों में'' अगर *''अमसहू रऊ–सकुम''* होता तो ये मानी पैदा होते कि सरों का मसह करो, इस सूरत में पूरे सर का मसह होना चाहिए था, लेकिन चूँकि यहाँ *'बि–र–ऊसिकुम'* है, इससे मालूम होता है कि सर के मसह के लिए कुछ ख़ास हिस्सा है पूरे सर का मसह नहीं है। मासूम इमामों (अ0) का कहना है कि मसह सर के एक ख़ास हिस्से पर है और वह ख़ास हिस्सा सर के आगे का हिस्सा है, इसी के अन्दर मसह होना चाहिए। 'ज़ुरारह' ने इमाम मु0 बाक़िर (अ0) से पूछा कि ये कहाँ से साबित होता है कि मसह सर के कुछ हिस्से पर होना चाहिए ? तो हज़रत (अ0) ने इरशाद फ़रमाया : *''बे–रऊसिकुम''* में जो 'ब' है उससे मालूम होता है कि मसह सर के कुछ हिस्से पर है।

इसके बाद क़ुर्आन में है *''व–अर्जु–लकुम''*

इसको कुर्आन में आम तौर पर 'ज़बर' ( 'अ' की मात्रा) के साथ इस तरह बयान किया गया है – " इस पर इस तरीक़े की बुनियाद टिकी है कि पैरों को वुज़ू में धोया जाए, इस तरह ये पहले शब्द *"फ़–अग़्सिलू"* यानि "धोने" से जुड़ जाता है।

अब इन लोगों के तरीक़े पर कुर्आन की आयत का अनुवाद यूँ होगा – "धो अपने चेहरों और हाथों को कुहनियों तक और मसह करो अपने सरों का और पैरों का, यानि पैरों को धोओ।"

इसके ख़िलाफ़ अहलेबैत (अ0) का तरीक़ा ये है कि ये *"रऊ–सकुम"* पर अत्फ़ है और *"अम्सहू"* के आधीन (Under) है जिससे ये नतीजा निकलता है कि पैरों का 'मसह' ज़रूरी है। इसका फ़ैसला तो यूँ हो जाता है कि *'अर्जुलिकुम'* पढ़ना खुद अहले सुन्नत के माने हुए सात क़ारियों (कुरान पाठक) में से कुछ की क़िर्अत (कुर्आन पाठन शास्त्र) है और चूँकि ये बात मानी हुई है कि इन सब क़ारियों की किर्अत लगातार है इस लिए इस क़िर्अत के मानने पर सुन्नी मजबूर हैं और शीया भी इस क़िर्अत को मानते हैं इसलिए ये दोनों फ़िरकों में मानी हुई और एका की हुई है लेकिन *"अरर्जुलकुम"* यानि लाम पर ज़बर के साथ शीया नज़रिए से सही नहीं है, फिर ये कि *'अर्जु–लकुम'* का अत्फ पास वाले जुम्ले (शब्द) को छोड़ कर पिछले जुम्ले के मफ़ऊल (कर्म कारक) Object से जोड़ना अगर बिल्कुल ग़लत न भी हो तब भी कुर्आन की फ़साहत (साफ़ और सीधे बोल) के ख़ेलाफ़ ज़रूर है और आप ने ऊपर देखा कि इसका अनुवाद भी अजीब होता है। (इसलिए अल्लामा फ़ख़्रूद्दीन राज़ी ने तो कहा है कि अगर ये *"अरजु–लकुम"* ज़ेर (इ की मात्रा) के साथ हो तब भी उसको रऊसिकुम से ही जोड़ना चाहिए इस लेहाज़ से कि यह सही है कि 'बेरऊसेकुम' में हर्फ़े जर यानि (Preposition) 'बि' की वजह से ज़ाहिर, में ज़ेर है मगर असल में वह 'अम्सहू' का मफ़ऊल (Object/कर्म कारक) है। इसलिए इसकी जगह ज़ेर की है और ऐसे में ज़ेर के साथ इस पर अत्फ़ सही है। इसलिए पैरों का मसह ही ज़रूरी होगा, धोना सही नहीं है।

## वुज़ू से जुड़ी दुआएँ

इस्लाम धर्मशास्त्र का मक़सद इबादतों में जो इस्लाम धर्म शास्त्र का असल चाहना है और जिस तरह की कैफ़ियत पैदा करना है और जो अस्ली मक़सद है उसकी तरफ़ अक्सर उन दुआओं के ज़रिए लाने की कोशिश की गयी है, जो उस इबादत के वक़्त पढ़ने के लिए (मासूमों की) बतायी हुई हैं, क्योंकि दुआ सिर्फ़ शब्दों का पढ़ना नहीं है जो इमाम (अ0) के ज़रिए हम तक पहुँचे हैं।

देखिए 'तिलावत' (पाठ), ज़िक्र (याद), दुआ (प्रार्थना/याचना) ये तीनों चीज़ें अलग–अलग हैं। तिलावत के मानी हैं, दूसरे के बोल को ऐसे पढ़ना, कि वह दूसरे का कहा हुआ है और ज़िक्र के मानी खुद अपनी तरफ़ से खुदा के गुण का बयान करना और उसकी तारीफ़ करना, सराहना।

जैसे – *"अल्हम्दु लिल्लाहि रब्बिल–आलमीन"* इसको जब हम इस तरह से पढ़ें कि ये सूरा 'हम्द' का हिस्सा है तो इसका पढ़ना 'तिलावत' होगा और अगर हम कहें *"सुब्हानल्लाहि वल्हम्दुलिल्लाहि व ला–इला–ह इल्लल्लाहु वल्लाहु अक्बर"* अब यहाँ *"सुब्हा–नल्लाह"* कुर्आन में है, *"अल्हम्दुलिल्लाह"* भी कुर्आन में है और *"ला–इला–ह इल्लल्लाह"* भी है और मान लीजिए कि *"अल्लाहु अक्बर"* भी हो, लेकिन फिर भी यहाँ इनका पढ़ना कुर्आन की आयत की हैसियत से नहीं है, इसलिए वह 'ज़िक्र' में आएगा, इसे 'तिलावत' नहीं कहा जाएगा।

अब दुआ इन दोनों के मुक़ाबले में है, यानि दुआ के मानी हैं खुदा के आगे अपनी मांगों, ज़रूरतों को रखना, ये "दुआ" तभी होगी जब उसमें इस तरह की चाह साथ हो।

*"इहदिनस्सिरातल् मुस–तक़ीम"* सूर–ए–'हम्द' में पढ़ा जाए तो वह दुआ नहीं होगा, बल्कि तिलावत का हिस्सा है, लेकिन इसको जब हम 'कुनूत' (नमाज़ की दूसरी रकत में हाथ उठाकर दुआ करना) में कहे और अपनी तरफ़ से कहें – *"इहदिनस्सिरातल् मुस्तक़ीम"* तो अब वह दुआ होगी। जिसके मानी हैं कि "(ऐ खुदा) हमको सीधे रास्ते को दिखा (सीध ो रास्ते पर रख)।"

इसी तरह वह दुआएँ जो किसी इमाम से आयी है, अगर उसी लेहाज़ से उनको पढ़ा जाए कि वह उन्हीं इमाम का बोल या कहना है और उसे हम सिर्फ़ पढ़ रहे हैं तो वह हमारी ज़बान से दुआ हरगिज़ नहीं होंगी। जैसे सहीफ़–ए–कामिला (चौथे इमाम की दुआओं की किताब) की किसी दुआ को आदमी याद

करने की को बार–बार दोहरा रहा हो तो उस वक़्त जो ये पढ़ रहा है उसे उस आदमी की तरफ़ से दुआ़ नहीं कहा जा सकता, हाँ, उस प्रार्थना को याद करने के बाद जब 'अपनी' दुआ़ के इरादे से ख़ुद उसको ज़बान पर लाए, तो वह दुआ़ (खुदा से मांगना होगा) होगी।

दूसरी सूरत ये है कि मान लीजिए सही–फ़–ए–सज्जादिया कोर्स में हो, मास्टर कोर्स की किताब की तरह छात्रों के सामने उन दुआ़ओं को पढ़ता है, उसका अनुवाद करता है, मतलब बताता है, ये पढ़ना उसका हरगिज़ दुआ़ नहीं है।

इसी तरह मान लीजिए सहीफ़–ए–सज्जादिया की छपाई का काम चल रहा हो, कापी प्रूफ़ के लिए एक आदमी पढ़ता है दूसरा देखता है, क्या ये उस आदमी की तरफ़ से दुआ़ है? हरगिज़ नहीं, दुआ़ के मानी ये हैं कि ये आदमी उस दुआ़ के विषयों (उसकी बात) को अपनी तरफ़ से मांगने की तरह कहे और उसके मक़सद के पूरा होने की 'ख़्वाहिश' करे, उस का नाम 'दुआ़' है।

ये दुआ़एँ जो अलग–अलग वक़्त और अलग–अलग हालतों में आयी हैं, इनको सिर्फ़ ये समझना कि इनके बोल में असर हैं यानि जैसे दवाओं में ख़ासियत होती है या जिस तरह मंत्रों के बोल में असर होता है उसी तरह इन दुआ़ओं में भी है, ये हरग़िज सही नहीं है। इन दुआ़ओं का मक़सद ये होता है कि उस काम को करते वक़्त एक आदमी के दिमाग़ में उन विचारों को पैदा होना चाहिए ओर उसके दिल में जज़्बात व भावनाओं की बुहतात होना चाहिए, इसीलिए उन दुआ़ओं के मानी–मतलब अक्सर उन कामों या उस वक़्त से मेल रखते हैं जिस लेहाज़ से वह दुआ़एँ आयी हैं। अगर सिर्फ़ बोल ही की बात होती तो इसकी कोई ज़रूरत नहीं थी यानि कोई काम हाथ से लगाव रखता और उस वक़्त दुआ़ पैरों के लिए होती; काम होता पैरों का और दुआ़ ज़बान के लिए होती, या फिर रात से लगाव रखने वाली दुआ़ सुबह के वक़्त होती या रात को ऐसी दुआ़ जो दोपहर दिन की बात है। ऐसा हरगिज़ नहीं है बल्कि जहाँ तक हम देखते हैं, हर दुआ़ में उस चीज़ की तत्संगति (मेल) है जिसके लिए वह दुआ़ बताई गई है।

इसके माने ये हैं कि अस्ल मक़सद बोल नहीं हैं बल्कि मानो (अर्थ) का ध्यान है और वह मानी ऐसे हैं जिनका मक़सद उन हालतों और वक़्त जिस वक़्त या जिस बात की दुआ़ की जा रही है उसका ध्यान पैदा करना है।

बेशक वे लोग जो माने–मतलब नहीं समझ सकते (अरबी भाषा जिसमें ये दुआएं है, नहीं जानते) बरकत और शगुन के लिए मैं उन बोल को ज़बान पर ये समझते हुए लाएँ कि ये हमारे इमाम की शिक्षा है और इस में हमारी तरफ़ से ख़ुदा के आगे कुछ विनतीहैं, इतना ही ध्यान है तो इसे बिल्कुल बेकार नहीं कहा जा सकता। मगर दुआ़ओं का असली मक़सद तो तभी पूरा होगा जब उनके 'माने' की तरफ़ पूरी तरह ध्यान हो और इन्सान पर इसका असर हो जिससे वह अपने दिल की तड़प और सच्चे जज़्बे के साथ उन दुआ़ओं को ज़बान पर लाये।

वुज़ू के मौक़े पर जब इन्सान के सामने पानी आता है और वह उसको चुल्लू में लेता है तब दो चीज़े इन्सान के दिमाग़ में आती हैं, एक ये कि वह इस वक़्त धर्म के एक फ़र्ज़ कर्त्तव्य को अदा कर रहा है और एक काम पूरा करना चाहता है। अब उसे ध्यान होता है कि जो काम मैं कर रहा हूँ उसके सारे साधन, ज़रिए, हाथ–पैर, जिस्म और उनकी ताक़त, दिल–दिमाग़ और उनके एहसास करने समझने की बात, अक़्ल जिससे इरादे का ताल्लुक़ है, ये सब सीधे ख़ुदा के पैदा किए हुए हैं और अगर वह इन ताक़तों को छीन ले तो हम कोई भी काम नहीं कर सकते। इन्सान देखता है कि सिर्फ़ मैं और मेरी सकत (खुदा) के कहने पर चलने और काम करने के लिए काफ़ी नहीं हूँ, जब तक कि ख़ुदा मेरी उस तरह मदद न करे जिसे ''तौफ़ीक'' कहते हैं। उसकी मदद से इन्सान इबादत भक्ति करता है, और इसीलिए इन्सान इबादत में जितना भी जोश और लगन से काम ले वह ख़ुदा की बारगाह में उस इबादत को बड़ी हैसियत से पेश नहीं कर सकता और ना ही ख़ुदा का शुक्र (धन्यवाद) ही कर सकता है, क्योंकि वह सारे ज़रिए और चीज़ें जिनसे वह उस इबादत को पूरा करता है और वह सारे काम जिन्हें वह शुक्रिये के लिए करता है वे भी ख़ुदा के एहसान और कृपा के ही आभारी हैं और इसीलिए ख़ुद उन कामों के लिए भी अगर शुक्रिया किया जा सकता है तो वह ख़ुदा ही का।

(जारी.........................)